# उम्मीद की राजनीति और शिक्षणशास्त्र

**मनोज कुमार**

*पेडागॉजी एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ होप : थियरी, कल्चर एण्ड स्कूलिंग.* जीरु, हेनरी ए. (1997). वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, कोलोराडो, यू.एस.ए.

हेनरी जीरु की पुस्तक पर चर्चा आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र क्या है, इसमें आलोचनात्मक का क्या अर्थ है, विवेकशीलता का क्या तात्पर्य है, उसके अन्यान्य पहलू क्या हैं, जैसे मुख्य मसलों को उठाती है। इसमें प्रत्यक्षवाद और आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के टकराव आदि पर संक्षिप्त चर्चा है व साथ ही यह भी कि कक्षा शिक्षण में यह किस तरह फलित होता दिखाई देता है। सं.




सामाजिक तथ्य अलग-थलग रखी कोई स्थिर वस्तु नहीं है जिसे शिक्षक या अभिभावक अपनी हथेली में उठाकर विद्यार्थियों की हथेली पर ज्यों-का-त्यों धर दें। जिन तथ्यों, व्याख्याओं और विवेचनों को हम शिक्षा की प्रक्रिया में शामिल करते हैं वे अगर सर्वथा निरपेक्ष-हस्तामलकवत हों तो शायद शिक्षणशास्त्र की तमाम चुनौतियाँ नैतिक या राजनीतिक नहीं होंगी, वे महज तकनीकी चुनौतियाँ होंगी। लेकिन सामाजिक तथ्य निरन्तर सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के बीच बनते और विघटित होते रहते हैं, वे गतिशील और ऐतिहासिक होते हैं।

चूँकि सामाजिक तथ्यों को गढ़ने में मानवीय समूहों की सक्रिय, ऐतिहासिक भूमिका होती है इसलिए उन्हें नियति की तरह पढ़ाना विद्यार्थी की निष्क्रिय आत्मछवि गढ़ना है। अगर इस इतिहास को गढ़ने में विद्यार्थी और शिक्षक की भी सक्रिय भूमिका है तो प्रदत्त सामाजिक तथ्यों से उन्हें सिर्फ तालमेल नहीं बिठाना है, बल्कि उन्हें रूपान्तरित भी करना है। कुल मिलाकर सामाजिक तथ्य नियत नहीं हैं, अतः उन्हें अटल नियति की तरह पढ़ना या पढ़ाना यथास्थिति के पक्ष में खड़ा होना है और इस तरह के शिक्षणशास्त्र को लागू करना यथास्थिति के पक्ष की राजनीति करना है।

हेनरी जीरू अपनी किताब *'पेडागॉजी एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ होप : थियरी, कल्चर एण्ड स्कूलिंग'* में इन्हीं मुद्दों को उठाते हैं और इनके ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक विवेचनों में जाते हैं। तीन खण्डों में विभाजित इस किताब में

जीरू आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के सैद्धान्तिक आधारों की तलाश भी करते हैं और कक्षा के स्तर पर इस तरह के शिक्षणशास्त्र की सम्भावनाओं को भी परखते हैं। यह किताब 1997 में एक पुस्तक श्रृंखला–'द एज : क्रिटिकल स्टडीज इन एजुकेशन थियरी' के अन्तर्गत छपकर आई। श्रृंखला–सम्पादकों ने जीरु से आग्रह किया था कि वे उनके कुछ चुनिन्दा लेखों को संग्रहित कर एक ऐसी किताब छापना चाहते हैं जिसमें उनकी बौद्धिक यात्रा के विभिन्न पड़ाव समेटे जा सकें। लेकिन आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र (क्रिटिकल पेडागॉजी) की कुछ बुनियादी मान्यताओं और पश्चिमी चिन्तन में उन मान्यताओं के बनने के इतिहास को समझने में इस किताब से मदद मिलती है।

किताब के पहले खण्ड के चार अध्यायों में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की सैद्धान्तिक आधारभूमि की पड़ताल है| पहला लेख स्कूली शिक्षण में गोचरवाद या प्रत्यक्षवाद (positivism) की संस्कृति के हावी होते जाने और ऐतिहासिक विवेचनों के पीछे छूटते चले जाने को लेकर है| अंग्रेजी में इसका शीर्षक है–''स्कूलिंग एंड द कल्चर ऑफ़ पॉजिटिविज्म : नोटस ऑन डेथ ऑफ़ हिस्ट्री|'' पहले खण्ड का दूसरा अध्याय फ्रैंकफर्ट स्कूल और विवेकशीलता पर है| इस परम्परा के विद्वानों ने विवेकशीलता की समग्र धारणा के विघटित होते जाने पर जो विचार किया है उसका व्यवस्थित विवेचन इस अध्याय में है। अंग्रेजी में इसका शीर्षक है 'कल्चर एंड रैशनिलिटी इन फ्रैंकफर्ट स्कूल थॉट: आइडियोलॉजिकल फाउण्डेशनस फॉर अ थियरी ऑफ सोशल एजुकेशन|' इस खण्ड का तीसरा अध्याय स्कूली प्रक्रिया में विचारधारात्मक जकड़नों के बावजूद और उसके बरक्स शिक्षक और शिक्षार्थी की सक्रियता और सकर्मकता की संभावना पर है| चौथा अध्याय सीखने-सिखाने के व्यवहारिक उपक्रम में बौद्धिक की स्वायत्तता और प्राधिकार के सवालों को उठाता है| तीसरे और चौथे अध्याय के शीर्षक अंग्रेजी में इस प्रकार है- 'आइडियोलॉजी एंड एजेंसी इन द प्रोसेस ऑफ़ स्कूलिंग' और 'अथॉरिटी, इंटेलेक्चुअलस, एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ प्रैक्टिकल लर्निंग'।

किताब का पहला खण्ड जहाँ आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को खँगालने पर केन्द्रित है वहीं दूसरा खण्ड आलोचनात्मक शिक्षण शास्त्र के व्यवहार पर है| समग्रता में इस खण्ड का शीर्षक है - 'क्रिटिकल पेडागॉजी इन द क्लासरूम|' इस खण्ड में तीन अध्याय हैं जिनमें कक्षा में विद्यार्थियों की हर प्रकार की आवाजों को जगह देने से लेकर स्कूली ज्ञान की बंधी–बंधाई सीमा के अतिक्रमण तक पर चर्चा है| तीसरा खण्ड कुछ समसायिक मसलों पर है| समग्रता में तीसरे खण्ड का शीर्षक है–'कंटेम्पररी कंसर्न्स|' इस तीसरे खण्ड में बहुसंस्कृतिवाद और विविधता की वजह से कक्षा–शिक्षण में उभर आई नई सम्भावनाओं से लेकर रीगन–थैचर के दौर में पब्लिक इंटेलेक्चुअलस के सामने मौजूद चुनौतियों तक की चर्चा है। इस समीक्षा लेख में किताब के पहले खण्ड के बहाने कुछ ज़रूरी सैद्धान्तिक मुद्दों पर अपेक्षाकृत विस्तार से विचार करने कोशिश है| इसके आगे लेख में किताब के दूसरे और तीसरे खण्ड को संक्षेप में समेटते हुए कक्षा–शिक्षण से जुड़े कुछ मुद्दों को भी रेखांकित करने का भी प्रयास है।

## आलोचनात्मक शिक्षण शास्त्र की 'आलोचनात्मकता' के क्या मायने हैं ?

प्रकट तौर पर कई बार ऐसा लगता है कि आलोचनात्मकता एक प्रकार की नकारात्मकता है। लोकप्रिय सहजबोध में आलोचनात्मकता को नकारात्मकता के पर्यायवाची पद के तौर पर ग्रहण किया जाता है। इस किताब के लेख इस चालू समझ को खारिज़ करते हैं और इस समझ को पुख़्ता करते हैं कि आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्रीय अभ्यास के मूल में सकर्मक आलोचनात्मकता या विवेचनशीलता है। यह चालू शैक्षिक प्रक्रिया में शिक्षक या विद्यार्थी के द्वारा तथ्य को निष्क्रिय और अकर्मक ढंग से स्वीकार करने की प्रवृत्ति को प्रश्नांकित करता है। उदाहरण के लिए तथ्य यह हो सकता है

कि बेल्जियम के नागरिकों की औसत आयु 81.29 वर्ष है जबकि कांगो के नागरिकों की औसत आयु 59.02 वर्ष है। अब इस तथ्य को क्या शिक्षक निष्क्रिय ढंग से विद्यार्थियों को सुपुर्द कर दे और क्या विद्यार्थी इसे निष्क्रिय ढंग से स्वीकार कर लें? क्रिटिकल थियरी या सामाजिक सिद्धान्त की आलोचनात्मक धारा पूरी शिद्‌दत से इस सवाल को उठाती है। दरअसल ये तथ्य न तो किसी शून्य में पैदा हुए हैं और न ही किसी प्राकृतिक नियम के प्रतिफल हैं। ये तथ्य किन्हीं ऐतिहासिक, राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रतिफल हैं। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र यह सवाल उठाने को प्रेरित करता है कि आख़िर बेल्जियम और कांगो में औसत आयु में इतना बड़ा फासला कैसे है? जब तक बौद्धिक व नैतिक निष्क्रियता या शिथिलता होगी तब तक परोसे गए तथ्य पर ऐसे सवाल नहीं उठेंगे। नैतिक सक्रियता आलोचनात्मक विवेचन की पूर्व शर्त है। ऐसी नैतिक सक्रियता सवाल उठाने वाले विद्यार्थियों और शिक्षकों को सकर्मक बनाती है, अकर्मक नहीं।

जो तथ्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनकी अगर आलोचनात्मक पड़ताल करें तो पता चलेगा कि लम्बी अवधि तक छोटे से यूरोपीय देश बेल्जियम ने कांगो के एक विशाल भूभाग को अपना उपनिवेश बनाकर रखा। अब ऐतिहासिक विवेचन से सिर्फ यह नहीं पता चलता कि कांगो बेल्जियम का उपनिवेश था, बल्कि यह भी अहसास होता है कि इतिहास प्राकृतिक नियमों से परिचालित नहीं है, बल्कि मनुष्य निर्मित है और इस निर्मिति में सत्ता के बँटवारे में भेदभाव है। यह बोध कि मनुष्य सामूहिक रूप से इतिहास का निर्माता है और इस भेदभाव को मिटाया जा सकता है, शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षार्थी को सकर्मक बनाता है। यही आलोचनात्मक कर्मशीलता क्रिटिकल पेडागॉजी के मूल में है।

इस दृष्टि से देखें तो शिक्षा का उद्यम नैतिक प्रश्नों से और इसलिए राजनैतिक प्रश्नों से तटस्थ या निरपेक्ष नहीं रह सकता जबकि शिक्षणशास्त्र की चालू प्रभुत्वशाली परम्पराएँ उसे राजनीति से निरपेक्ष और महज तकनीकी कार्यकुशलता का विषय मानती है।

## विवेकशीलता के दो पहलू : न्यायसंगतता और युक्तिसंगतता

आधुनिकता की अग्रगामी बौद्धिक-यात्रा के एक खास पड़ाव पर विवेक को नैतिकता से निरपेक्ष और बौद्धिक सक्षमता के रूप में घटाकर देखा जाने लगा। इस तथ्य को पूरी शिद्‌दत से फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धान्तकारों ने रेखांकित किया है। आलोचनात्मक सामाजिक शिक्षण की ऐतिहासिक परम्परा को खंगालते हुए जीरु अपनी इस किताब में फ्रैंकफर्ट स्कूल तक पहुँचते हैं।[1] किताब के पहले खण्ड का दूसरा अध्याय फ्रैंकफर्ट स्कूल द्वारा रेखांकित समस्याओं पर है।

यूरोपीय ज्ञानोदय की परम्परा ने मानवीय विवेकशीलता की धारणा को मानव कल्याण के लिए एक बड़ी उम्मीद के तौर पर देखा। ग्रीक दर्शन में मौजूद मानवीय विवेकशीलता की धारणा को नए सन्दर्भों में पुनर्जीवित करने की कोशिश की गई। ज्ञानोदय की परम्परा में प्रस्तावित मानवीय विवेकशीलता की यह धारणा बहुआयामी थी। इस विवेकशीलता का अगर एक पक्ष यह था कि मनुष्य के सामूहिक प्रयत्नों को अधिक से अधिक युक्तिसंगत बनाकर उत्तरोत्तर कार्यकुशलता हासिल की जा सकती है और विकास को अनवरत कायम रखा जा सकता है, तो दूसरा पक्ष यह भी था कि जो प्रयत्न हम कर रहे हैं उसके नैतिक औचित्य को हम किसी धार्मिक आदेश के आधार पर नहीं, बल्कि मानवीय विवेकशीलता यानी नैतिक तर्क-वितर्क से सिद्ध कर सकते हैं। हम स्वयं विचार कर सकते हैं कि हम जो कार्य कर रहे हैं वह नैतिक दृष्टि से उचित है या नहीं। इस धारणा ने कि मनुष्य अपने लिए और अपने समाज के लिए स्वयं नैतिक निर्णय ले सकने में सक्षम है, मानव समाज के संचालन को लौकिक बुनियाद पर ला खड़ा किया। ईश्वरीय और पारलौकिक से इहलौकिक जमीन पर जब मनुष्य के पाँव

टिके तब लोकतन्त्र की धारणा का विकास हुआ, जिसकी बुनियाद में यह विचार है कि प्रत्येक मनुष्य नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से सक्षम और स्वायत्त है।

विवेकशीलता की संश्लिष्ट धारणा को समझने के लिए हिन्दी की क्रिया 'सोचना' और इसके अलग-अलग प्रयोगों पर गौर करना उपयोगी होगा। इन दो प्रयोगों पर गौर करें:

1. सोचो अगर देश भर की ट्रेनों को ड्राइवर के बदले रोबोट चलाने लगें तो भारतीय रेल का घाटा कितना कम हो पाएगा।
2. सोचो साथ क्या जाएगा।

पहले प्रयोग में आए शब्द 'सोचो' का अर्थ है एक प्रकार का संज्ञानात्मक अभ्यास करना। गणना करके देखा जा सकता है कि इस समय रेलवे का घाटा कितना है, रेलवे अपने ड्राइवरों के वेतन और अन्य मद में कितना खर्च करता है और नए रोबोट लगाने में कितने पैसे लगेंगे। दूसरे प्रयोग में सम्बोधित किए जा रहे व्यक्ति को नैतिक विवेचन के लिए प्रेरित किया जा रहा है। अकसर विवाद सुलझाने के लिए हम किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति से कहते हैं कि आप तो विचारवान व्यक्ति हैं, आप खुद उचित-अनुचित का फैसला कर सकते हैं।

इस तरह के प्रयोगों में हम उस व्यक्ति को महज उसकी संज्ञानात्मक क्षमता का ध्यान नहीं दिला रहे होते हैं, बल्कि उससे एक नैतिक अपील भी कर रहे होते हैं। पढ़े-लिखे व्यक्ति से समाज की महज यह अपेक्षा नहीं है कि उसमें बुद्धि-चातुर्य होगा, बल्कि यह भी अपेक्षा है कि व्यक्ति नैतिक दृष्टि से विचारवान होगा।

आधुनिक समाज की बुनियाद में विवेकशीलता की यह जो संश्लिष्ट धारणा थी वह क्रमशः छीजती चली गई और विवेकशील होने का अर्थ अपने हित-अहित की गणना करना मात्र रह गया। इस छीजन के अनेक पड़ाव हैं, लेकिन शुरुआती तौर पर इसका एक स्रोत एडम स्मिथ की 'बाजार के अदृश्य हाथ' की अवधारणा में है। अन्य उदारवादी चिन्तकों की तरह एडम स्मिथ भी मानते थे कि व्यक्ति स्वयं के बारे में निर्णय लेने के मामले में सक्षम है और व्यक्ति को राज्य और राजा के अभिभावकत्व की ज़रूरत नहीं है। इस दृष्टि से व्यक्ति स्वायत्त है। लेकिन एडम स्मिथ इस मामले में एक कदम आगे बढ़ते हैं कि व्यक्ति को दूसरों की भलाई के बारे में सोचने की ज़रूरत नहीं है। अगर प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपनी भलाई के बारे में बिना किसी लाग-लपेट के तार्किक ढंग से सोचे और पूर्णतः मुक्त और प्रतियोगी बाज़ार में एक दूसरे के साथ विनिमय करे तो इससे पूरे समाज का भला होगा। विनिमय, व्यक्ति को उस काम में ध्यान लगाने का अवसर देगा जिस काम को वह बेहतर तरीके से कर सकता है और इससे कुल मिलाकर समाज में कार्यकुशलता बढ़ेगी। जो व्यक्ति या समूह जिस कार्य में सबसे अधिक कुशल है वही बाजार की प्रतियोगिता में उस व्यवसाय में टिक पाएगा और इस तरह बाज़ार सबसे कुशल हाथों में, सीमित संसाधनों को पहुँचाने में सक्षम है। ऐसी स्थिति में सीमित संसाधनों के बँटवारे के लिए किसी राज्य जैसी संस्था की आवश्यकता बहुत नहीं रह जाती है। इसे ही एडम स्मिथ ने 'बाज़ार का अदृश्य हाथ' (इनविजीबल हैण्ड ऑफ मार्केट) कहा है। कुल मिलाकर एडम स्मिथ वहाँ पहुँचे जहाँ विवेकशील होने का अर्थ रह गया बिना किसी भावनात्मक व नैतिक उलझनों के निपट तार्किक तरीके से अपने हित के बारे में सोचना। इस सन्दर्भ में तार्किक ढंग से सोचने का मतलब रह जाता है कि व्यक्ति के पास सीमित संसाधन हैं और उसे यह सोचना है कि कैसे इन संसाधनों का सबसे कुशल तरीके से इस्तेमाल कर के अपने जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। इस प्रकार विवेकशीलता, चिन्तनशीलता और तर्कशीलता के दायरे से नैतिक विवेचन का पक्ष पीछे छूटता गया। एडम स्मिथ तो फिर भी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को ऐसे सार्वजनिक हित का विषय मानते थे जिसे निजी हितों के योगफल के रूप में नहीं देखा जा सकता है और इनके संचालन में राज्य की भूमिका देखते थे, लेकिन आगे चलकर बीसवीं सदी में फ्रेडरिक

वॉन हायक जैसे नव उदारवादियों ने जीवन के सभी पहलुओं को बाजार के हवाले करने की सिफारिश की। एडम स्मिथ के लिए समाज फिर भी बड़ी इकाई थी और बाजार समाज के भीतर मौजूद एक सक्षम प्रक्रिया, जबकि नव उदारवादियों के लिए सामाजिक तन्त्र को बाजार के तन्त्र के अधीन होना चाहिए। हायक के नजरिए से देखें तो बिना किसी भावनात्मक लाग-लपेट के 'माँग और पूर्ति' के वस्तुनिष्ठ नियमों से चलने वाला बाजार सर्वाधिक तार्किक और सक्षम अन्तर्वैयक्तिक व्यवस्था है।[2] परोपकार, लोक कल्याण आदि नैतिक मूल्य भावनात्मक, आत्मपरक और गैर-भरोसेमन्द मूल्य हैं। तार्किक मानवीय समाज बाज़ार के वस्तुनिष्ठ नियमों से निर्धारित मूल्यों से संचालित होना चाहिए। विवेकशीलता की संश्लिष्ट धारणा यहाँ तक आते-आते तर्कसंगतता की वस्तुनिष्ठ धारणा में सीमित हो गई। ज्ञानोदय की परम्परा में विवेकशीलता के साथ नैतिक विवेचन का जो पहलू विन्यस्त था, वह पीछे छूट गया। विवेकशीलता की समग्र धारणा के इस विघटन को जीरु और फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धान्तकार आधुनिकता की विचार-यात्रा में टेक्नोक्रेटिक रैशनैलिटी या यान्त्रिक तार्किकता के विजय का क्षण मानते हैं।

## मानवीय कर्तृत्व का सवाल

एक ऐसा समाज जो मानवेतर, वस्तुनिष्ठ नियमों से परिचालित होगा उसमें मनुष्य की क्या भूमिका होगी? उस समाज में क्या वह कर्त्ता के रूप में सक्रिय होगा– अगर व्यक्तिगत तौर पर नहीं तो कम से कम सामूहिक रूप से? या उसकी भूमिका कुल इतनी होगी कि वह 'अटल' नियमों और सामाजिक जीवन के प्रदत्त और अपरिहार्य तथ्यों के साथ तालमेल बिठाए? क्या शिक्षा की कुल भूमिका यह होगी कि वह आने वाली पीढ़ी को इस समाज के साथ तालमेल बिठाकर जीवनयापन करना सिखाए ताकि समाज में भी स्थिरता बनी रहे और शिक्षार्थी का जीवन भी चलता रहे?

जीरु और फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धान्तकार विराट पूँजी और शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के गठजोड़ को संचालित करने वाली भारी भरकम नौकरशाही की टेक्नो-मैनेजेरियल, यान्त्रिक विवेकशीलता के आगे व्यक्ति के कर्तृत्व को विघटित होता हुआ देखते हैं। मानवीय विवेकशीलता की जो यात्रा ज्ञानोदय के साथ शुरू हुई थी उसकी भूमिका औद्योगिक पूँजीवाद के अगले चरण में बस इतनी रह गई कि उसने श्रम-विभाजन को युक्तिसंगत बनाते हुए नौकरशाही का विराट तन्त्र खड़ा किया। आम मेहनतकश इन्सान का अपने जीवन पर नियन्त्रण ही नहीं रह गया। श्रम की प्रक्रिया ऐसी हो गई कि योजना बनाने का काम एक छोटे से तबके के हाथ में सिमट कर रह गया और उसे छोटे-छोटे टास्क के रूप में लागू करने की जिम्मेवारी आम मजदूर के हिस्से आयी। ऐसी स्थिति में आम मजदूर के हाथ में न तो नैतिक विवेचन के अवसर रह गए और न ही जटिल संज्ञानात्मक अभ्यास के। इस स्थिति को मार्क्स ने श्रम और श्रमिकों की अलगाव (एलियनेशन) की धारणा के रूप में समझने की कोशिश की और आगे चलकर जार्ज लुकाच ने इसे मानवीय सम्बन्धों के जड़ हो जाने के रूप में समझा। श्रम और श्रमिक के मनुष्य से 'जड़ वस्तु' में तब्दील हो जाने को जार्ज लुकाच ने 'रेइफीकेशन' (Reification) कहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अनेक सामजिक चिन्तकों ने इस प्रक्रिया को अलग-अलग तरीके से पहचानने की कोशिश की।

आधुनिकता की यात्रा शुरू हुई थी धर्म और ईश्वर को अपदस्थ करते हुए मनुष्य को नियन्ता मानने के साथ; आगे चलकर यह यात्रा उस पड़ाव पर पहुँची कि मनुष्य का अपने जीवन पर नियन्त्रण ही नहीं रह गया।

बीसवीं शताब्दी में यान्त्रिक विवेकशीलता ने मानवीय सम्बन्धों को भले ही शिथिल और निष्क्रिय कर दिया हो, परन्तु आर्थिक और प्रशासनिक क्षेत्र की कार्यकुशलता में अभूतपूर्व

वृद्धि हुई। यह कार्यकुशलता नैतिकता से निरपेक्ष थी। इस का एक प्रतिफलन फासीवाद के रूप में हुआ जिसके मनहूस साये में फ्रैंकफर्ट स्कूल के दार्शनिक लिख रहे थे। मानवीय कर्तृत्व का संकट अपने चरम रूप में तब प्रकट हुआ जब नाजी शासन की पराजय के बाद हिटलर के एक वरिष्ठ कर्मचारी पर न्यूरेमबर्ग में ट्रायल चला। उस कर्मचारी पर जनसंहार आयोजित करने के आरोप थे। कर्मचारी अडोल्फ आइखमैन ने ट्रायल कोर्ट से कहा कि उसके किसी भी कार्य के लिए उसे नैतिक दृष्टि से ज़िम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता है। उसने तो पूरी ईमानदारी और लगन से अपने वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश का पालन किया। फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिन्तक जब लिख रहे थे तो उनकी पृष्ठभूमि में यह सब चल रहा था। इसलिए उन्होंने नैतिक कर्तत्व के विघटन को सभ्यता के संकट के रूप में देखा।

## प्रत्यक्षवाद और सतही, गोचर तथ्यों के प्रति अनालोचनात्मक नज़रिया

शिक्षा में नैतिकता निरपेक्ष यान्त्रिक तार्किकता का प्रतिफलन कई रूपों में हुआ। ज्ञानोदयकालीन बहुआयामी विवेकशीलता से क्रमशः यान्त्रिक तर्कशीलता में संक्रमण ने मानविकी और समाज अध्ययनों में प्रत्यक्षवादी या गोचरवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया। अध्ययन की इस पद्धति में वैज्ञानिक अध्ययन और वस्तुनिष्ठता के नाम पर गोचर तथ्यों को जुटाने, उन्हें वर्गीकृत करने और उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालने पर जोर था। इस प्रकार की अध्ययन-पद्धति में ऐतिहासिक और आलोचनात्मक चेतना का अभाव था। प्रकट तथ्यों के पीछे ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ होती हैं और उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में सत्ता और संसाधन का जिस प्रकार से बँटवारा होता है उसकी झलक उन तथ्यों में होती है। प्रत्यक्षवाद या गोचरवाद इतिहास में मौजूद सत्ता और संसाधन के बँटवारे के प्रश्न को अगोचर कर देता है।

जीरु और उनकी धारा के लोग मानते हैं कि सामजिक तथ्यों के वर्गीकरण का काम भी शुद्ध बौद्धिक, नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से निरपेक्ष काम नहीं है। जब हम विश्लेषण के लिए वर्ग बनाते हैं और उसमें किसी तथ्य को डालते हैं तो उस गतिविधि में नैतिक और राजनीतिक निर्णय निहित होते हैं। उदाहरण के लिए हम यह सोचें कि किस प्रकार की यौन हिंसा को हम 'बलात्कार' के वर्ग में डालेंगे। जाहिर है कि अलग-अलग समाज यह अलग-अलग ढंग से तय करता है। इस तय करने में समाज में मौजूद सत्ता के समीकरण प्रभावी होते हैं। भारत में शादीशुदा जीवन में पति-पत्नी के बीच हुई यौन हिंसा को अभी 'बलात्कार' मानने में न्यायविदों में थोड़ी हिचकिचाहट है, जबकि ठीक उसी प्रकार की हिंसा को शादीशुदा ज़िन्दगी के बाहर बलात्कार माना जाता है। कई अन्य देशों में शादी के भीतर भी बिना सहमति के जबरन यौन सम्बन्ध बनाने को कानूनी तौर पर 'बलात्कार' माना जाता है।

तो कुल मिलकर यह कि तथ्यों के वर्गीकरण का काम भी राजनीति से निरपेक्ष नहीं है। जिन देशों में शादी के भीतर भी बिना सहमति के जबरन यौन सम्बन्ध थोपने को अपराध माना जाता है, उन देशों में शायद स्त्री आन्दोलन अधिक सशक्त होगा जबकि भारत जैसे अनेक देशों में अब भी पुरुष वर्चस्व और पितृसत्ता की पकड़ मजबूत है। जब ऐतिहासिक तथ्य वस्तुनिष्ठ, मानवेतर और सार्वभौमिक मान लिया जाता है तब मौजूदा सत्ता सम्बन्धों को भी सार्वभौमिक, सार्वकालिक और स्वाभाविक मानने की तरफ हम बढ़ते हैं। ऐसी स्थिति में मौजूदा सत्ता-सम्बन्धों पर सवाल उठाने और आलोचना करने की गुंजाइश नहीं बचती है। मुश्किल यह है कि मौजूदा सत्ता-समीकरण ने बहुसंख्यक जनता को नैतिक कर्तत्व से वंचित और अकर्मक बना दिया है। इस सत्ता-समीकरण और उससे जुड़े तथ्यों को प्रश्नांकित करना और उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से देखना सकर्मक होने की पूर्व-शर्त है। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र इसी आलोचनात्मक सकर्मकता के लक्ष्य को हासिल करना चाहता है।

## शिक्षा यानी जीवन स्थितियों का सचेत, आलोचनात्मक विवेचन

शिक्षा की प्रक्रिया मौजूदा सत्ता-तन्त्र के अनुरूप विद्यार्थियों को समाजीकृत और अनुकूलित करती है— इस बात को शिक्षा के समाजशास्त्र में एकाधिक मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी विचारकों ने रेखांकित किया है। अपने विश्लेषण के आधार पर बावल्स (Bowles), गिण्टिस (Gintis) और काफी हद तक अल्थूसर ने भी यह दर्शाने की कोशिश की है कि स्कूल और अन्य शैक्षिक संस्थान पूँजीवादी आर्थिक, राजनीतिक सम्बन्धों को पुनरुत्पादित करने में सहायक हैं। इस धारा के विद्वानों को पुनरुत्पादनवादी कहा गया। पुनरुत्पादनवादियों से जीरु इस मामले में अलग हैं कि वे मानते हैं कि स्कूल प्रभुत्वशाली वर्ग के आइडियोलॉजिकल एपरेटस के तौर पर काम करने के लिए अभिशप्त नहीं है। स्कूल को काउण्टर पब्लिक स्फीयर ( सार्वजनिक प्रतिरोध के क्षेत्र) के तौर पर भी देखा जाना चाहिए और इस क्षेत्र को बनाए रखने के लिए संघर्ष जारी रखना चाहिए। शिक्षक की संकल्पना जीरु ने एक परिवर्तनकामी पब्लिक इण्टेलैक्चुअल के रूप में की है। आधुनिक औद्योगिक समाज और खासकर नवउदारवादी आर्थिक प्रणाली ने शिक्षण को कौशलरहित, दोहराव वाले रोजमर्रा के काम में तब्दील करने की वैसी ही कोशिश की है जैसी कोशिश असेम्बली लाइन प्रोडक्शन शुरू होने के बाद हस्तशिल्प के साथ की गई थी। मुश्किल यह है कि शिक्षक एक जीते-जगाते इन्सान और इन्सानों के समूह से रूबरू होता है। इन समूहों के अपने-अपने जीवन-इतिहास होते हैं। शिक्षक परिवर्तनकामी बौद्धिक की भूमिका निभा सकता है बशर्ते वह अपनी कक्षा में मौजूद अलग-अलग जीवन-इतिहासों और जीवन स्थितियों को मुखर होने दे।

कक्षा में विद्यार्थियों को अपनी जीवन-स्थितियों पर विचार करने का अवसर मिले-इस बात को जीरु ने एक शिक्षक के तौर पर भी अनुभव किया और बाद में पाउलो फ्रेरे और बाख्तिन के सिद्धान्तों से अपनी इस समझ की पुष्टि भी की। फ्रेरे ने ऐसे शिक्षणशास्त्र को अपनाने पर बल दिया जो शिक्षार्थियों के समूह में मौजूद किन्हीं सदस्यों की वास्तविक समस्या से शुरू हो। उन्होंने इसे 'प्रॉब्लम पोजिंग' एजुकेशन (सवाल उठाने वाली शिक्षा) कहा। दूसरी तरफ बाख्तिन ने ऐसे संवाद और विमर्श को रेखांकित करने की कोशिश की जिसमें कोई एक मूल या आधिकारिक स्वर नहीं होता है बल्कि एक साथ कई स्वरों की गुंजाइश होती है। वास्तविक विमर्श में एक आवाज़ की गूँज नहीं होती है, बल्कि विविध स्वर संगति (पॉलिफोनी) की सम्भावना बनी रहती है। जीरु यहाँ से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बावजूद इसके कि समाज में पूँजी और बाज़ार की विचारधारा प्रभुत्वशाली विचारधारा है, अगर विद्यार्थियों की विविध आवाज़ों को शिक्षण की प्रक्रिया में शामिल किया जाए तो स्कूल के काउण्टर पब्लिक स्फीयर के तौर पर बने रहने की सम्भावना बनी रहेगी। बाख्तिन का मानना था कि भाषा और संवाद की प्रकृति ही ऐसी है कि उसपर किसी एक के लिए वैसा एकाधिकार जमा लेना आसान नहीं है जैसा निजी एकाधिकार भूमि, कोयला आदि अन्य संसाधनों पर जमा लिया जाता है। वे लिखते हैं :

> "भाषा तटस्थ माध्यम नहीं है जिसे वक्ता अपने इरादों की अभिव्यक्ति के लिए आसानी से निजी सम्पत्ति में तब्दील कर ले; भाषा का संसार सघन-जनाकीर्ण संसार है जिसमें दूसरों के इरादे भी विन्यस्त हैं| इसे अपने अनुकूल बनाने की प्रक्रिया, इसमें अपनी आवाज को गढ़ने की प्रकिया एक जटिल और मुश्किल प्रक्रिया है|"
>
> (बाख्तिन, 1981, पृष्ठ-294. अनुवाद मेरा)[3]

विमर्श और संवाद की इस जटिल प्रक्रिया को समझते हुए यह कहना उचित लगता है कि वर्चस्व की कोई प्रक्रिया कभी समग्र और पूर्ण नहीं होती है और इस अपूर्णता से ही आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के लिए रास्ते निकलते हैं।

## अन्त में

पिछले डेढ़-दो दशकों में भारत में स्कूल से

लेकर कॉलेज और विश्वविद्यालय तक कक्षा-कक्ष बहुभाषिक और बहु सांस्कृतिक होते गए हैं। इस बदलाव को विविधता के उदारवादी फ्रेमवर्क में भी देखने की कोशिश की जा सकती है, लेकिन संस्कृतियों और भाषाओं के बीच सत्ता के वितरण में असमानता है। कक्षा–कक्ष में वर्चस्वशाली संस्कृतियाँ और भाषाएँ भी हैं और उपेक्षित, दमित हाशियाकृत आवाजें भी। ऐसी स्थिति में शिक्षक ज्ञान की जिन स्थापित परम्पराओं से अपने सभी विद्यार्थियों को अवगत करवाना चाहता है, वे परम्पराएँ अक्सर वर्चस्वशाली संस्कृतियों और भाषाओं के पक्ष में झुकी होती हैं। इस स्थिति में चाहे भी तो शिक्षक निःस्पृह और तटस्थ नहीं रह सकता है। उसे नैतिक और राजनीतिक दुविधाओं से जूझना पड़ता है। इस सन्दर्भ में जीरु जैसे शिक्षाशास्त्रियों को पढ़ने से कई सारी दुविधाओं को समझने में मदद मिलती है, भले ही जीरु ने अपनी शिक्षाशास्त्रीय मान्यताएँ पश्चिमी परिवेश में और पश्चिम की विचार परम्परा से जूझते हुए गढ़ीं हों।

सन्दर्भ


1. फ्रैंकफर्ट स्कूल की विस्तृत जानकारी के लिए देखें– समाज विज्ञान विश्वकोश, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, प्रकाशक- राजकमल प्रकाशन(2013). प्रविष्टि लेखक- वैभवसिंह, पृष्ठसंख्या- 980-982. http://www.hindisamay.com/e-content/kosh/937_985_ph.pdf
2. देखें–Neoliberalism-the-idea-that-changed-the-world,Stephen Metcalf- The Guardian, Friday, 18 Aug. 2017. https://www.theguardian.com/news/2017/aug/18/neoliberalism-the-idea-that-changed-the-world.
3. The Dialogic Imagination, Four Essays, M.M. Bakthin (1981), Editor- Michael Holquit, university of Texas Press.


---


मनोज कुमार पिछले दो दशकों से शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में कार्यरत हैं। सम्पर्कः manoj_maee@yahoo.in